21

ग्रामीण भारत में कृषिक सम्बन्ध

[AGRARIAN RELATIONS IN RURAL INDIA]

भारत प्रमुखतः एक कृषि-प्रधान देश है। इस देश की 74.3 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती है। जो अधिकांशतः कृषि के माध्यम से अपनी आजीविका चलाती है। यहां सक्रिय श्रम-शक्ति का करीब 70 प्रतिशत भाग कृषि में लगा हुआ है और इसके द्वारा देश की राष्ट्रीय आय का करीब 50 प्रतिशत भाग उत्पन्न किया जाता है। जिस देश के अधिकांश लोग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हों और कृषि जिनकी आजीविका का मुख्य स्रोत हो, वह कृषि के समुचित विकास बिना आर्थिक क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता। परम्परागत और विकासशील देशों के सामने मुख्य समस्या आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की है। भारत भी एशिया के उन विकासशील देशों में आता है जो नियोजन और विकास कार्यक्रमों के माध्यम से चहुंमुखी प्रगति की ओर आगे बढ़ रहे हैं। यहां पंचवर्षीय योजनाओं में ग्रामीण पुनर्निर्माण को प्रधानता दी गई है। यहां कृषि के क्षेत्र में हरित क्रान्ति (Green Revolution) लाने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भूमि सुधारों (Land-reforms) के द्वारा किराए पर भूमि जोतने वालों (Tenants), बटाईदारी में खेती करने वालों (Share-croppers) तथा भूमिहीन श्रमिकों (Landless Labourers) की स्थिति सुधारने का प्रयत्न भी किया गया है। कृषि के क्षेत्र में यन्त्रीकरण भी हुआ। लोग ट्रैक्टर, पम्पिंग सेट तथा अन्य कृषि उपकरणों का प्रयोग भी करने लगे हैं। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कृषि क्षेत्र में नवीन किस्म के बीजों, रासायनिक खादों, नवीन कृषि प्रविधियों तथा सिंचाई की सुविधाओं, आदि के उपलब्ध होने से कृषि उत्पादन बढ़ा है। आज देश में अनाज की कमी नजर नहीं आती और विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चा माल भी पर्याप्त मात्रा में मौजूद है। इन सबके पीछे पिछले कई वर्षों का नियोजन और सतत् प्रयत्न है।

उपर्युक्त विवरण से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कृषि के क्षेत्र में हमने काफी प्रगति कर ली है। अब कृषि से सम्बन्धित कोई समस्याएं शेष नहीं है। आज विकासशील देशों के सामने मुख्य समस्या केवल उत्पादन को बढ़ाने या आर्थिक विकास की नहीं है, बल्कि यह देखने की है कि उत्पादित वस्तुओं का समाज के विभिन्न वर्गों में न्यायोचित तरीके से वितरण हो, विकास कार्यक्रमों का लाभ कुछ गिने-चुने शक्ति-सम्पन्न लोगों को नहीं मिले,

क सम्बन्ध

RURAL INDIA]

ो 74.3 प्रतिशत जनसंख्या गांवों
पनी आजीविका चलाती है। यहां
गा हुआ है और इसके द्वारा देश
जाता है। जिस देश के अधिकांश
आजीविका का मुख्य स्रोत हो,
हीं कर सकता। परम्परागत और
और सामाजिक न्याय की है।
नियोजन और विकास कार्यक्रमों
पंचवर्षीय योजनाओं में ग्रामीण
क्रान्ति (Green Revolution)
भूमि सुधारों (Land-reforms)
टाईदारी में खेती करने वालों
bourers) की स्थिति सुधारने का
। लोग ट्रैक्टर, पम्पिंग सेट तथा
कोई सन्देह नहीं कि कृषि क्षेत्र
यों तथा सिंचाई की सुविधाओं,
में अनाज की कमी नजर नहीं
मात्रा में मौजूद है। इन सबके

क कृषि के क्षेत्र में हमने काफी
ष नहीं है। आज विकासशील
आर्थिक विकास की नहीं है,
भिन्न वर्गों में न्यायोचित तरीके
ति-सम्पन्न लोगों को नहीं मिले,

सामान्य जन की गरीबी कम हो और लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठे। कृषि के क्षेत्र में चल रहे विकास के कार्यों का मूल्यांकन करने और वास्तविक स्थिति से परिचित होने के लिए यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम ग्रामीण कृषि संरचना को समझें, यह जानने का प्रयत्न करें कि ग्रामीण भारत में कृषिक सम्बन्ध किस प्रकार के हैं और ये किस रूप में पाए जाते हैं। भूमि व्यवस्था क्या है, बड़े-बड़े जमींदारों एवं भू-स्वामियों, छोटे भू-स्वामियों, किराये पर भूमि जातेने वालों, साझेदारी में खेती करने वालों और भूमिहीन श्रमिकों के रूप में काम करने वालों का अनुपात क्या है? भू-स्वामियों के एक ओर किराये पर भूमि जोतने वालों तथा दूसरी ओर भूमिहीन श्रमिकों के साथ किस प्रकार के सम्बन्ध पाए जाते हैं? यहां हम यही जानने का प्रयत्न करेंगे कि ग्रामीण कृषि संरचना की प्रकृति कैसी है और कृषिक सम्बन्ध किस प्रकार के हैं?

कृषिक सम्बन्ध का अर्थ एवं कृषिक व्यवस्थाओं का अध्ययन
(MEANING OF AGRARIAN RELATIONS AND STUDY OF AGRARIAN SYSTEMS)

भारतीय ग्राम भूमि के स्वामित्व, नियन्त्रण तथा उसके प्रयोग की दृष्टि से काफी विभेदीकृत प्रकार के हैं। यहां कृषक भू-स्वामियों के अलावा अन्य सामाजिक वर्ग भी हैं। उदाहरण के रूप में, यहां ग्रामीण समुदायों में एक ओर स्वयं खेती नहीं करने वाले बड़े-बड़े भू-स्वामी तथा दूसरी ओर बटाईदारी में खेती करने वाले एवं भूमिहीन श्रमिक पाए जाते हैं। इनके अलावा ग्रामीण समुदायों में साहूकार, व्यापारी, कुटीर उद्योगों में लगे लोग तथा सेवा प्रदान करने वाली कुछ जातियां भी पाई जाती हैं जिनका कृषि से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से भारतीय ग्रामीण समुदाय के लिए 'कृषक वर्ग' अथवा 'कृषक समाज' शब्द का प्रयोग भ्रामक है।

आन्द्रे बिताई के अनुसार कृषि-विषयक व्यवस्थाओं (Agrarian Systems) का अध्ययन भूमि और उत्पादन-कार्यों हेतु उसके प्रयोग की समस्या से सम्बन्धित है। भूमि पर आधारित सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में कृषिक व्यवस्थाओं (Agrarian Systems) के अध्ययन का विशेष महत्व है। यहां हमें यह बात कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि अभी तक मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है।[1] प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में भूमि के उपयोग से सम्बन्धित विभिन्न प्रौद्योगिक व्यवस्थाएं पाई जाती हैं।

यहां कृषि के क्षेत्र में अनेक पारिस्थितिक विभिन्नताएं भी देखने को मिलती हैं। यहां कुछ क्षेत्रों में बहुत अधिक वर्षा तो कुछ में कठिनता से ही तनिक वर्षा हो पाती है।

यहां कुछ क्षेत्रों में सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध हैं और कुछ में नहीं के बराबर। विभिन्न क्षेत्रों में तापमान, नमी तथा धूप की दृष्टि से भी अन्तर पाए जाते हैं। इन सबका प्रभाव फसलों की विभिन्न किस्मों तथा उनके लिए काम में ली जाने वाली प्रौद्योगिकी (technology) पर पड़ता है। कृषि व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त करने हेतु कृषि में प्रयुक्त प्रौद्योगिकी के महत्व को समझना आवश्यक है।

[1] Andre Beteille, *Studies in Agrarian Social Structure* (1974), p. 25.

कृषि कार्यों की प्रकृति वास्तव में काफी जटिल है। कृषि कार्यों का संगठन इस बात पर निर्भर करता है कि किस समुदाय में कृषि हेतु कौन-सी प्रौद्योगिकी उपलब्ध है। लेकिन यहां हमें इस बात को भी नहीं भूलना है कि कृषि कार्य का विभाजन प्रौद्योगिकी पर आधारित नहीं होकर सामाजिक संगठन पर आधारित होता है। **समाज विशेष की संस्कृति यह निर्धारित करती है कि कृषि कार्यों में पुरुषों की भूमिका क्या होगी और स्त्रियों की क्या?** जनगणना सम्बन्धी आंकड़ों से ज्ञात होता है कि पंजाब की तुलना में पश्चिमी बंगाल में कृषि मजदूरों में स्त्रियों की संख्या अधिक है। अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि तमिलनाडु और केरल के कुछ भागों में कृषि-श्रमिकों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है।

आन्द्रे बिताई[1] ने बताया है कि भारतीय कृषि के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिलेगी कि यहां **स्तरीकरण की व्यवस्था और कार्य विभाजन के बीच भी एक सम्बन्ध पाया जाता है।** गेहूं की खेती और चावल की खेती वाले क्षेत्रों में भी कार्य के विभाजन की दृष्टि से काफी अन्तर देखने को मिलता है। जनगणना सम्बन्धी आंकड़ों से पता चलता है कि पंजाब और हरियाणा में जहां गेहूं की खेती विशेषतः होती है, सम्पूर्ण जनसंख्या में कृषि श्रमिकों का अनुपात सापेक्ष दृष्टि से कम है, जबकि पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में जहां गीले धान की खेती (wet paddy cultivation) होती है, यह अनुपात अधिक है। यहां बटाईदारी में खेती का प्रचलन भी ज्यादा है।

नियोजक और नीति-निर्धारकों की मान्यता है कि **स्वयं के पारिवारिक श्रम द्वारा की जाने वाली खेती अधिक उन्नत प्रकार की हो सकती है, बजाय उस खेती के जो किराये पर भूमि जोतने वाले काश्तकारों, बटाईदारों तथा भूमिहीन श्रमिकों के द्वारा की जाती है।** लेकिन उत्पादक संगठन के तरीकों में मौजूदा क्षेत्रीय अन्तरों की व्याख्या हम किस प्रकार करेंगे? इस सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि **जाति संरचना** ही इस व्याख्या का सूत्र है, स्वयं द्वारा खेती (self-cultivation) उन क्षेत्रों में सामान्य है जहां कृषक जातियां प्रभावी हैं, जबकि बटाईदारी और वेतनभोगी श्रमिकों का प्रयोग उन क्षेत्रों में सामान्य है जहां अकृषक जातियों पर भूमि का स्वामित्व है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार उपर्युक्त अन्तर का कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव, अतिरिक्त श्रम की उपलब्धता तथा वेतन संरचना सम्बन्धी भेद है।

आन्द्रे बिताई के अनुसार इसका एक अन्य कारण स्वयं कार्य की प्रकृति है। एक समुदाय का इस प्रकार विभाजन जहां कुछ लोग स्वयं काम करते हैं और कुछ के लिए दूसरे काम करते हैं, आंशिक रूप से कार्य की प्रकृति पर निर्भर करता है। यही कारण है कि पंजाब और हरियाणा में दस या पन्द्रह एकड़ के खेत पर स्वयं कृषक परिवार ही खेती कर लेता है, जबकि पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में पांच एकड़ के खेत पर भी लोग दूसरों से खेती कराते हैं। पंजाब और हरियाणा में गेहूं की खेती से सम्बन्धित कार्य इतने कठोर व थकाने वाले नहीं हैं जितने दक्षिण में गीले धान की खेती से सम्बन्धित कार्य।

ग्रामीण समुदाय को ऐसे दो समूहों में विभक्त नहीं किया जा सकता जिसमें से एक में वे लोग आते हैं जो कृषि कार्य करते हैं और दूसरे में वे लोग जो कृषि कार्य नहीं करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों में से अधिकांश किसी न किसी रूप में खेती से सम्बन्धित कोई न कोई कार्य करते हैं। वहां कुछ लोग किराए पर भूमि लेकर जोतते हैं,

1 *Ibid.*, p. 28.

टेल है। कृषि कार्यों का संगठन इस बात पर
कौन-सी प्रौद्योगिकी उपलब्ध है। लेकिन यहां
ार्य का विभाजन प्रौद्योगिकी पर आधारित
ा है। **समाज विशेष की संस्कृति यह निर्धारित
या होगी और स्त्रियों की क्या?** जनगणना
तुलना में पश्चिमी बंगाल में कृषि मजदूरों
भी ज्ञात होता है कि तमिलनाडु और केरल
ा पुरुषों से अधिक है।

र के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण बात यह देखने
ार्य विभाजन के बीच भी एक सम्बन्ध पाया
क्षेत्रों में भी कार्य के विभाजन की दृष्टि
बन्धी आंकड़ों से पता चलता है कि पंजाब
ती है, सम्पूर्ण जनसंख्या में कृषि श्रमिकों
नी बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में जहां
होती है, यह अनुपात अधिक है। यहां

कि **स्वयं के पारिवारिक श्रम द्वारा की जाने
य उस खेती के जो किराये पर भूमि जोतने
द्वारा की जाती है।** लेकिन उत्पादक संगठन
हम किस प्रकार करेंगे? इस सम्बन्ध में
इस व्याख्या का सूत्र है, स्वयं द्वारा खेती
क जातियां प्रभावी हैं, जबकि बटाईदारी
ान्य है जहां अकृषक जातियों पर भूमि
न्तर का कारण भूमि पर जनसंख्या का
ना सम्बन्धी भेद है।

कारण स्वयं कार्य की प्रकृति है। एक
काम करते हैं और कुछ के लिए दूसरे
निर्भर करता है। यही कारण है कि
पर स्वयं कृषक परिवार ही खेती कर
ल में पांच एकड़ के खेत पर भी लोग
हूं की खेती से सम्बन्धित कार्य इतने
ान की खेती से सम्बन्धित कार्य।

नहीं किया जा सकता जिसमें से एक
में वे लोग जो कृषि कार्य नहीं करते
धिकांश किसी न किसी रूप में खेती
ोग किराए पर भूमि लेकर जोतते हैं,

तो कुछ बटाईदारी के रूप में कृषि कार्य करते हैं। कुछ ऐसी भू-स्वामी पाये जाते हैं जो स्वयं खेत पर हाथ से तो काम नहीं करते, परन्तु अन्य लोगों द्वारा किये जाने वाले कृषि कार्यों की देख-रेख करते हैं। बड़े भूस्वामी भूमिहीन श्रमिकों की सहायता से खेती का कार्य करते हैं। **कृषि के क्षेत्र में हाथ से किये जाने वाले कार्यों में भी एक संस्तरण पाया जाता है। सबसे अधिक परिश्रम-साध्य कार्य निम्नतम जातियों अथवा स्तर के लोगों एवं स्त्रियों को करने पड़ते हैं।** कृषि क्षेत्र में किसे कौन-सा कार्य सौंपा जाएगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि समाज विशेष में विभिन्न कार्यों का मूल्यांकन किस प्रकार से किया जाता है। कार्यों के विभाजन में इस बात को विशेष महत्व दिया जाता है कि किसके पास कितनी भूमि है तथा अन्य भौतिक स्रोतों पर किसका कितना नियन्त्रण है।

आन्द्रे बिताई ने अपने अध्ययनों के आधार पर बताया है कि साधारणतः देखने में यह आता है कि **कठोर एवं सर्वाधिक परिश्रम-साध्य कार्य उन्हें सौंपे जाते हैं जो भूमिहीन हैं और जो स्तरीकरण के निम्नतम स्तर पर हैं** और बड़े भू-स्वामी स्वयं कार्य नहीं करते क्योंकि वे दूसरों से अपने कार्य कराने में साधनों की सम्पन्नता के कारण समर्थ हैं।

जब हम उत्पादन के सामाजिक संगठन पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यह न केवल कार्य के बल्कि सम्पत्ति अधिकारों के भी एक विशिष्ट प्रतिमान को व्यक्त करता है। यहां मोटे तौर पर **उत्पादन संगठन के तीन प्रमुख प्रतिमान** पाये जाते हैं। **प्रथम प्रतिमान पारिवारिक श्रम** (Family Labour) **पर आधारित है, जबकि द्वितीय किराये के श्रम** (Hired Labour) **पर और तृतीय काश्तकारी या किराये पर भूमि जोतने** (Tenancy) पर। इनमें से प्रत्येक प्रतिमानों के कई रूप-भेद (Variants) देखने को मिलते हैं। कई स्थानों पर इन तीन प्रतिमानों का मिश्रित रूप भी पाया जाता है।

जहां उत्पादन पारिवारिक श्रम पर आधारित होता है, वहां परिवार के विभिन्न सदस्यों को अलग-अलग कार्य सौंपे जाते हैं। कार्यों में विभाजन का एक प्रमुख आधार लिंग-भेद है। जहां परिवार के सभी सदस्य स्वयं के खेत पर कार्य करते हैं, वहां साथ ही उन्हें समय-समय पर आवश्यकतानुसार बाहरी लोगों का सहयोग भी लेना पड़ता है। यह सहयोग नकद भुगतान के रूप में भी हो सकता है अथवा विनिमय या वस्तु के रूप में भी। जहां काश्तकारी या पट्टेदारी के रूप में अर्थात किराये पर एक निश्चित अवधि के लिए दूसरे की भूमि जोती जाती है या बटाईदारी में खेती की जाती है, वहां दो परिवारों के बीच सम्बन्ध पनपते हैं। इनमें एक परिवार भू-स्वामी तथा दूसरा काश्तकार या बटाईदार का होता है। इन दो श्रेणियों के अन्तर्गत आने वाले लोग अधिकारों, कर्तव्यों तथा दायित्वों की दृष्टि से एक-दूसरे से बंधे रहते हैं। भू-स्वामी परिवार और वेतनभोगी श्रमिकों के बीच भी निश्चित प्रकार से सम्बन्ध पाये जाते हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में इन सम्बन्धों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है। मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों का यह दायित्व है कि वे इस बात का पता लगायें कि इन विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों में बंधने वाले लोगों के प्रथा अथवा कानून की दृष्टि से एक-दूसरे के प्रति सिद्धान्त रूप में क्या अधिकार और दायित्व हैं तथा व्यवहार में उनका रूप क्या है?

जब हम उत्पादन संगठन की विभिन्न प्रणालियों पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान सामाजिक स्तरीकरण के एक महत्वपूर्ण पक्ष की ओर जाता है। **जब हम कृषि क्षेत्र में पारिवारिक श्रम, वेतनभोगी श्रम तथा काश्तकारी या बटाईदारी पर आधारित उत्पादन पर ध्यान देते हैं, तो**

हमारी दृष्टि स्वतः ही भू-स्वामी, भू-स्वामी खेतिहर लोगों, काश्तकारों, बटाईदारों एवं कृषि श्रमिकों की ओर जाती है। इन्हीं विभिन्न श्रेणियों और इनके पारस्परिक सम्बन्धों से कृषिक संस्तरण प्रणाली (Agrarian hierarchy) **निर्मित होती** है जो भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है।

जहां तक विभिन्न आकार के खेतों के स्वामित्व अथवा उन्हें किराये पर जोतने या उन पर वेतनभोगी श्रमिकों के रूप में कार्य करने के आधार पर लोगों को अलग-अलग वर्गों में वर्गीकृत करने का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि केवल संख्यात्मक आंकड़ों के आधार पर ऐसा करना उचित नहीं होगा। इस प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर विभिन्न वर्गों के बीच पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों के बारे में हमें कुछ भी पता नहीं चल पायेगा। इससे हम यह नहीं समझ पायेंगे कि वे किस प्रकार के अधिकारों, कर्तव्यों तथा दायित्वों से एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं। इन्हीं के आधार पर यह निश्चित होगा कि विभिन्न श्रेणियों के बीच किस प्रकार की पारस्परिक अन्त:क्रिया पायी जाती है। कुछ लोगों का कहना यह भी है कि जाति ग्रामीण समाज के वास्तविक विभाजन का प्रतिनिधित्व करती है, न कि वर्ग। परन्तु इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि लोग स्वयं भूमि के स्वामित्व, नियन्त्रण तथा उपयोग पर आधारित विभाजन को महसूस नहीं करते हों। **आन्द्रे बिताई** ने बताया है कि यदि हम ग्रामीण पश्चिमी बंगाल को लें तो पायेंगे कि वहां लोग अपने समुदाय को केवल जातीय आधार पर ही विभाजित नहीं मानते, बल्कि अपने को ज़मींदार, जोतदार, वर्गादार, माहीन्दार, आदि के रूप में भी विभाजित समझते हैं। वर्गीकरण का यह दूसरा क्रम वर्गों के काफी निकट है। स्पष्ट है कि **भारतीय ग्रामों में सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में केवल जाति का महत्व ही नहीं पाया जाता, बल्कि वर्गों का भी।** ग्रामीण कृषि क्षेत्र में उत्पादन के संगठन के आधार पर लोग विभिन्न श्रेणियों में भी बंटे हुए हैं। इन विभिन्न श्रेणियों के व्यवस्थित अध्ययन के आधार पर ही कृषिक सम्बन्धों को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है।

कृषि का सामाजिक गठन
(SOCIAL FRAMEWORK OF AGRICULTURE)

आर्थिक क्रिया-कलापों की दृष्टि से सामाजिक गठन का विशेष महत्व पाया जाता है। आर्थिक क्रिया-कलापों में विभिन्न व्यक्तियों के बीच होने वाली अन्त:क्रिया आती है। इन व्यक्तियों के अधिकार और दायित्व सामाजिक रूप से परिभाषित होते हैं। उदाहरण के रूप में, कृषि सम्बन्धी क्रियाओं को भिन्न-भिन्न तरीकों से संगठित किया जा सकता है। एक भू-स्वामी स्वयं अपनी भूमि को नहीं जोत कर व्यक्तिगत देख-रेख में वेतनभोगी मजदूरों से जुतवा सकता है। इसके अलावा वह अपनी भूमि को दूसरों को निश्चित अवधि के लिए जोतने को दे सकता है अथवा बटाईदारी में खेती कराकर उपज का एक निश्चित भाग प्राप्त कर सकता है। इसके अलावा **कृषि का सामाजिक संगठन सामाजिक व्यवस्था के अन्य पक्षों; जैसे नातेदारी, जाति एवं स्थान विशेष से भी सम्बन्धित होता है।** इस वजह से कृषि कार्यों में लगे विभिन्न समूह और श्रेणियां तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध अलग-अलग समाजों में भिन्नता लिये होते हैं।

1 *Ibid.*, p. 33.

विभिन्न संगठनों के अलावा प्रत्येक समाज के मूल्यों के भी अपने विशिष्ट प्रतिमान होते हैं। समाज के मूल्य और संगठन परस्पर सम्बन्धित होते हैं। किसी भी परिवर्तन में ये दोनों महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह अवश्य ध्यान रखना है कि संगठनों की तुलना में मूल्य, परिवर्तन में अक्सर अधिक बाधक होते हैं। वर्तमान में एशियाई देशों में सामाजिक समानता (Social Equality) को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी मूल्य को ध्यान में रखते हुए भारत ने अपने सम्मुख एक जातिविहीन और वर्गहीन समाज (Casteless and Classless Society) की रचना का लक्ष्य रखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एशियाई समाजों में यद्यपि परम्परागत मूल्य आज भी मौजूद हैं, परन्तु आदर्श एक समतावादी समाज के निर्माण का रखा गया है। लेकिन इन समाजों में और विशेषतः भारत में संस्तरणात्मक मूल्यों का महत्व आज भी बना हुआ है।

भारतीय कृषिक क्षेत्र में निर्धनता

(POVERTY IN INDIAN AGRARIAN FIELD)

कृषिक समाजों में आय तथा रोजगार उपलब्ध कराने की दृष्टि से कृषि का विशेष महत्व पाया जाता है। इनमें कृषि को जीवन के ढंग के रूप में देखा जाता है। भारत और एशिया के अनेक अन्य देश हरित क्रान्ति (Green Revolution) के दौर से गुजर रहे हैं। कृषि के क्षेत्र में नवीन प्रौद्योगिकी को काम में लिया जा रहा है और भूमि सुधार की दृष्टि से विशेष प्रयास किये जा रहे हैं। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि भी हुई है।

कृषि प्रधान समाजों की एक महत्वपूर्ण विशेषता उनकी गरीबी तथा सापेक्ष रूप से उनकी अपरिवर्तनीय प्रकृति है। जब इन समाजों की तुलना औद्योगिक समाजों से की जाती है तो एक स्पष्ट अन्तर यह दिखाई पड़ता है कि जहां कृषि-प्रधान समाजों में गरीबी पाई जाती है, वहां औद्योगिक समाजों में समृद्धि। कृषि-प्रधान समाजों में गरीबी पाई जाने का मुख्य कारण भूमि पर जनसंख्या का अधिक दबाव तथा परम्परागत प्रकार की कृषि प्रौद्योगिकी का प्रयोग है। जब हम भारतीय समाज के विशेषतः ग्रामीण खण्ड पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि न केवल यहां गरीबी और उसकी अपरिवर्तनीय प्रकृति ही पाई जाती है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में असमानता की भी ऊंची मात्रा देखने को मिलती है। कृषिक समाजों में औद्योगिक समाजों की तुलना में ये असमानताएं अधिक कठोर और स्पष्ट होती हैं। **मिचैल यंग** ने कृषिक और औद्योगिक समाजों की तुलना करते हुए सार रूप में बताया है कि **"भूमि जातियां पैदा करती है, मशीन वर्ग बनाती है।"**[1]

ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता के लिए उत्तरदायी कारण निम्नांकित हैं :

(1) **सामाजिक कारक**—विशेषतः कृषि-प्रधान समाजों में असमानता के दो पक्ष हैं। **आन्द्रे बिताई**[2] के अनुसार इसका प्रथम पक्ष वितरण सम्बन्धी है जो सम्पत्ति, आय, साक्षरता, शिक्षा, आदि के वितरण के रूप में व्यक्त होता है। इसके अलावा असमानता उनकी मूल्य व्यवस्थाओं में भी मौलिक स्थान रखती है। परम्परागत भारतीय समाज इस मामले में काफी आगे बढ़ा हुआ है जिसने सामाजिक असमानता को वैचारिक दृष्टि से न्यायोचित ठहराया। यहां विशेषतः संस्तरणात्मक मूल्यों (Hierarchial Values) की प्रधानता पाई जाती है जिनका प्रभाव

[1] "The soil grows castes, the machine makes classes."
—M. Young, *The Rise of Maritocracy*, p. 24.

[2] Andre Beteille, *op. cit.*, p. 64.

विभिन्न प्रकार के संगठनों पर स्पष्टतः देखने को मिलता है। देश के चहुंमुखी विकास की दृष्टि से जब नवीन संगठन निर्मित किए जाते हैं तो वे भी इन परम्परागत मूल्यों से साधारणतः प्रभावित हो जाते हैं। भारत में सहकारी समितियों, खण्ड एवं जिला विकास समितियों तथा विद्यालय प्रबन्ध मण्डलों में संस्तरणात्मक प्रणाली स्पष्टतः देखने को मिलती है। यहां एक ओर ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जो विशेष सुविधा प्राप्त एवं सम्पन्न हैं, जबकि दूसरी ओर ऐसे लोग जो विभिन्न साधनों, सुविधाओं एवं योग्यताओं से वंचित हैं। इस देश में सम्पन्न या सुविधा-प्राप्त लोगों के प्रति आदर का भाव सामाजिक व्यवस्था के सभी स्तरों पर पाया जाता है। परिणाम यह होता है कि जो संगठन सामाजिक असमानता को समाप्त करने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं, उनमें भी संस्तरण पनप जाता है। ऐसी स्थिति में नवीन विकास या सामाजिक सुधार कार्यक्रमों का लाभ उन लोगों को ही विशेषतः मिल पाता है जो संस्तरणात्मक प्रणाली के शिखर पर हैं, जो उच्च या आदरणीय समझे जाते हैं। **आन्द्रे बिताई** ने बताया है कि विकास कार्यक्रमों का सफल होना वहां संदिग्ध हो जाता है जहां विशेष सुविधा प्राप्त और इनसे वंचित लोग दोनों ही यह मानते हैं कि मनुष्य जन्म से असमान पैदा किए जाते हैं और जहां कानून द्वारा निर्मित अधिकारों को काम में लेने से अक्सर सम्बन्धों की मौजूदा व्यवस्था को चुनौती दी जाती हो। यही कारण है कि ग्रामीण समाज में सामुदायिक कार्यक्रमों का लाभ उन गिने-चुने लोगों को ही मिल पाया जो पहले से ही सम्पन्न और शक्तिशाली थे।

(2) **आर्थिक कारक**—कृषिक समाजों में सामान्यतः भूमि का स्वामित्व एवं नियन्त्रण आर्थिक शक्ति का प्रमुख स्रोत है। भारत में कुछ लोग ऐसे हैं जिनके पास प्रचुर मात्रा में भूमि है, तो कुछ ऐसे भी हैं जो इससे पूर्णतः वंचित हैं। यहां भू-स्वामियों की भूमिहीनों की तुलना में काफी अधिक आय पाई जाती है। भू-स्वामियों और भूमिहीनों के बीच प्रभुत्व एवं निर्भरता के परम्परागत बन्धन पाये जाते हैं जो प्रथम प्रकार के लोगों को भूमिहीनों को अनेक तरीकों से नियन्त्रित करने में समर्थ बना देते हैं। यहां भू-स्वामियों, किराये पर भूमि जोतने वाले काश्तकारों, बटाईदारों तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों के बीच सम्बन्धों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है। देश के विभिन्न भागों में भूमि सुधार योजना के अन्तर्गत पट्टेदारी (Tenancy) तथा बटाईदारी (Share cropping) से सम्बन्धित शर्तों को काश्तकार एवं बटाईदार की दृष्टि से समान और सुविधाजनक बनाने का प्रयत्न किया है। परन्तु फिर भी भू-स्वामी और भूमिहीन श्रमिकों के बीच आज भी काफी अन्तर देखने को मिलता है।

आन्द्रे बिताई ने बताया है कि देश के कुछ भागों में विशेषतः पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों में भूमि सुधारों के बाद भी बटाईदारी में खेती असामान्य नहीं है और कभी-कभी भूमिहीन श्रमिकों का वर्ग ग्रामीण जनसंख्या का एक-तिहाई भाग तक निर्मित करता है। देश में अन्य ऐसे क्षेत्र भी हैं जहां कृषक स्वामित्व (Peasant Proprietorship) अधिक सामान्य है, लेकिन उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में भी, जहां काफी बड़े क्षेत्र लम्बे समय से कृषक स्वामित्व के अन्तर्गत रहे हैं, **थार्नर** (Thorner) का सामन्ती जागीरों की समाप्ति के उपरान्त निम्नलिखित अवलोकन रहा है : **'सबसे ऊपर भूमिदार हैं, इनके बीच सरदार और इनके भी नीचे आसामी हैं। इस ढेर के पेंदे में अर्थात् सबसे नीचे बटाईदारों तथा भूमिहीन श्रमिकों का जन-समूह है।'**[1] अवलोकनों से यह ज्ञात होता है कि **काश्तकार, बटाईदार और भूमिहीन श्रमिकों के अपने भू-स्वामियों के साथ**

1 D. Thorner, *The Agrarian Prospect in India*, p. 25.

विभिन्न प्रकार के संगठनों पर स्पष्टतः देखने को मिलता है। देश के चहुंमुखी विकास की दृष्टि से जब नवीन संगठन निर्मित किए जाते हैं तो वे भी इन परम्परागत मूल्यों से साधारणतः प्रभावित हो जाते हैं। भारत में सहकारी समितियों, खण्ड एवं जिला विकास समितियों तथा विद्यालय प्रबन्ध मण्डलों में संस्तरणात्मक प्रणाली स्पष्टतः देखने को मिलती है। यहां एक ओर ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जो विशेष सुविधा प्राप्त एवं सम्पन्न हैं, जबकि दूसरी ओर ऐसे लोग जो विभिन्न साधनों, सुविधाओं एवं योग्यताओं से वंचित हैं। इस देश में सम्पन्न या सुविधा-प्राप्त लोगों के प्रति आदर का भाव सामाजिक व्यवस्था के सभी स्तरों पर पाया जाता है। परिणाम यह होता है कि जो संगठन सामाजिक असमानता को समाप्त करने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं, उनमें भी संस्तरण पनप जाता है। ऐसी स्थिति में नवीन विकास या सामाजिक सुधार कार्यक्रमों का लाभ उन लोगों को ही विशेषतः मिल पाता है जो संस्तरणात्मक प्रणाली के शिखर पर हैं, जो उच्च या आदरणीय समझे जाते हैं। **आन्द्रे बिताई** ने बताया है कि विकास कार्यक्रमों का सफल होना वहां संदिग्ध हो जाता है जहां विशेष सुविधा प्राप्त और इनसे वंचित लोग दोनों ही यह मानते हैं कि मनुष्य जन्म से असमान पैदा किए जाते हैं और जहां कानून द्वारा निर्मित अधिकारों को काम में लेने से अक्सर सम्बन्धों की मौजूदा व्यवस्था को चुनौती दी जाती हो। यही कारण है कि ग्रामीण समाज में सामुदायिक कार्यक्रमों का लाभ उन गिने-चुने लोगों को ही मिल पाया जो पहले से ही सम्पन्न और शक्तिशाली थे।

(2) **आर्थिक कारक**—कृषिक समाजों में सामान्यतः भूमि का स्वामित्व एवं नियन्त्रण आर्थिक शक्ति का प्रमुख स्रोत है। भारत में कुछ लोग ऐसे हैं जिनके पास प्रचुर मात्रा में भूमि है, तो कुछ ऐसे भी हैं जो इससे पूर्णतः वंचित हैं। यहां भू-स्वामियों की भूमिहीनों की तुलना में काफी अधिक आय पाई जाती है। भू-स्वामियों और भूमिहीनों के बीच प्रभुत्व एवं निर्भरता के परम्परागत बन्धन पाये जाते हैं जो प्रथम प्रकार के लोगों को भूमिहीनों को अनेक तरीकों से नियन्त्रित करने में समर्थ बना देते हैं। यहां भू-स्वामियों, किराये पर भूमि जोतने वाले काश्तकारों, बटाईदारों तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों के बीच सम्बन्धों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है। देश के विभिन्न भागों में भूमि सुधार योजना के अन्तर्गत पट्टेदारी (Tenancy) तथा बटाईदारी (Share cropping) से सम्बन्धित शर्तों को काश्तकार एवं बटाईदार की दृष्टि से समान और सुविधाजनक बनाने का प्रयत्न किया है। परन्तु फिर भी भू-स्वामी और भूमिहीन श्रमिकों के बीच आज भी काफी अन्तर देखने को मिलता है।

आन्द्रे बिताई ने बताया है कि देश के कुछ भागों में विशेषतः पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों में भूमि सुधारों के बाद भी बटाईदारी में खेती असामान्य नहीं है और कभी-कभी भूमिहीन श्रमिकों का वर्ग ग्रामीण जनसंख्या का एक-तिहाई भाग तक निर्मित करता है। देश में अन्य ऐसे क्षेत्र भी हैं जहां कृषक स्वामित्व (Peasant Proprietorship) अधिक सामान्य है, लेकिन उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में भी, जहां काफी बड़े क्षेत्र लम्बे समय से कृषक स्वामित्व के अन्तर्गत रहे हैं, **थार्नर** (Thorner) का सामन्ती जागीरों की समाप्ति के उपरान्त निम्नलिखित अवलोकन रहा है : **'सबसे ऊपर भूमिदार हैं, इनके बीच सरदार और इनके भी नीचे आसामी हैं। इस ढेर के पेंदे में अर्थात् सबसे नीचे बटाईदारों तथा भूमिहीन श्रमिकों का जन-समूह है।'**[1] अवलोकनों से यह ज्ञात होता है कि **काश्तकार, बटाईदार और भूमिहीन श्रमिकों के अपने भू-स्वामियों के साथ**

1 D. Thorner, *The Agrarian Prospect in India*, p. 25.

के चहुंमुखी विकास की दृष्टि
परागत मूल्यों से साधारणतः
जिला विकास समितियों तथा
को मिलती है। यहां एक ओर
जबकि दूसरी ओर ऐसे लोग
श में सम्पन्न या सुविधा-प्राप्त
पर पाया जाता है। परिणाम
ने के उद्देश्य से बनाये जाते
कास या सामाजिक सुधार
ी संस्तरणात्मक प्रणाली के
ाई ने बताया है कि विकास
विधा प्राप्त और इनसे वंचित
ए जाते हैं और जहां कानून
मौजूदा व्यवस्था को चुनौती
कार्यक्रमों का लाभ उन
क्तिशाली थे।
का स्वामित्व एवं नियन्त्रण
जिनके पास प्रचुर मात्रा में
स्वामियों की भूमिहीनों की
मिहीनों के बीच प्रभुत्व एवं
ों को भूमिहीनों को अनेक
, किराये पर भूमि जोतने
सम्बन्धों में काफी भिन्नता
नना के अन्तर्गत पट्टेदारी
शर्तों को काश्तकार एवं
किया है। परन्तु फिर भी
खने को मिलता है।
: पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों
और कभी-कभी भूमिहीन
करता है। देश में अन्य
अधिक सामान्य है, लेकिन
षक स्वामित्व के अन्तर्गत
निम्नलिखित अवलोकन
नीचे आसामी हैं। इस ढेर
-समूह है।[1] अवलोकनों से
अपने भू-स्वामियों के साथ

आज भी कई क्षेत्रों में परम्परागत सम्बन्ध पाये जाते हैं। ये लोग अपने मालिकों के प्रति आदर और सम्मान का भाव रखते हैं। इन विभिन्न श्रेणियों के लोगों में विशेषतः भू-स्वामी के सन्दर्भ में आज भी सामाजिक दूरी पाई जाती है। **जाति व्यवस्था ने भू-स्वामियों और भूमिहीनों के बीच सामाजिक दूरी को बढ़ाने में योग दिया**, क्योंकि साधारणतः भू-स्वामी उच्च जातियों के और भूमिहीन निम्न जातियों के सदस्य रहे हैं। उच्च जातियों से सम्बन्धित भू-स्वामी अक्सर स्वयं अपने खेतों पर हाथ से काम नहीं करते हैं। कृषि से सम्बन्धित परिश्रमसाध्य कार्य; जैसे जमीन खोदना, हल चलाना तथा बीज बोना, आदि निम्नतम या अस्पृश्य जातियों के लोग करते रहे हैं।

भूमि के असमान वितरण का परिणाम यह हुआ है कि जिसके पास जितनी अधिक भूमि है, उसकी आय भी उतनी ही अधिक है। इस प्रकार **भूमि के असमान मात्रा में स्वामित्व के कारण यहां आय सम्बन्धी असमानता भी काफी मात्रा में देखने को मिलती है।** बटाईदार और भूमिहीन श्रमिकों की साधारणतः कठिनता से ही इतनी आय हो पाती है कि वे अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। वर्तमान में **कृषि क्षेत्र में नवीन प्रौद्योगिकी के प्रयोग तथा व्यापारिक किस्म की फसलों के प्रसार ने छोटे कृषकों तक की आय को बढ़ाने में योग दिया है।** कृषि श्रमिकों को कहीं-कहीं, विशेषतः इन क्षेत्रों में जहां कृषि और उद्योग में श्रमिकों की मांग काफी बढ़ गई है, अधिक मजदूरी मिलने लगी है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में आय का कम या अधिक होना प्रमुखतः इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति का कितनी भूमि पर स्वामित्व या नियन्त्रण है।

(3) **जीवन का ढंग**—ग्रामीण सामाजिक संरचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता **जीवन के ढंग (Style of Life) सम्बन्धी अन्तरों के रूप में है।** भारतीय गांवों में **बड़े भू-स्वामी, जागीरदार एवं जमींदार, आदि पक्के मकानों तथा कोठियों में रहते हैं।** बटाईदार और कृषि श्रमिक कच्चे मकानों या झोंपड़ियों में रहते हैं। **एक ओर भू-स्वामियों और दूसरी ओर बटाईदारों व कृषि श्रमिकों की पोशाक, बोलचाल की भाषा, तौर-तरीके और जीवन के ढंग में भी काफी अन्तर देखने को मिलते हैं।** कृषि क्षेत्र में विभिन्न स्तर के लोगों में **साक्षरता की दृष्टि से भी भेद पाया जाता है।** यहां शिक्षा को आज भी कुछ उच्च वर्गों और जातियों के विशेषाधिकार के रूप में माना जाता है। आज भी देश में कई ऐसे ग्राम मिल जायेंगे जहां कृषि श्रमिकों में से शायद ही कोई व्यक्ति शिक्षित हो। **आन्द्रे बिताई** ने बताया है कि कृषक वर्ग में साक्षरता और शिक्षा का फैलाव जापान में भूमि सुधारों की सफलता के पीछे एक महत्वपूर्ण कारक था, जबकि भारत में जहां पद-दलित या शोषित लोग अशिक्षित भी हैं, भू-स्वामी उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखने में अधिक सफल रहे हैं।[1]

(4) **राजनीतिक कारण**—ग्रामीण क्षेत्रों में न केवल धन तथा प्रस्थिति की दृष्टि से ही असमानताएं पाई जाती हैं, बल्कि शक्ति तथा सत्ता की दृष्टि से भी। यद्यपि गांवों में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाएं प्रारम्भ की जा चुकी हैं और सिद्धान्त रूप में सभी वर्गों और जातियों को शक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से समान सुविधाएं उपलब्ध हैं, परन्तु व्यवहार रूप में ऐसा नहीं है। वहां बटाईदार और कृषि श्रमिक शक्ति संस्तरण की प्रणाली (Power Hierarchy) में सबसे निम्न स्तर पर हैं। इसका प्रमुख कारण परम्परागत रूप से चली आ रही असमानताएं हैं।

1. Andre Beteille, *op. cit.*, p. 69.